



भगवान अर्जुन को कहते हैं कि बस मुझसे जुड़ जाओ, आसक्ति करनी है मुझसे करो। सदा ही मेरे आश्रय में रहो। किन्तु संशय मत करो।

प्रिय आत्मन् ! सप्रेम जय गुरुदेव ! सिद्धमार्ग पत्रिका का छब्बीसवाँ अंक प्रस्तुत है। इस अंक में महामण्डलेश्वर स्वामी नित्यानन्द जी द्वारा कुछ समय पूर्व शान्ति मन्दिर, मगोद में दिय गए प्रवचन के सम्पादित अंश प्रस्तुत हैं।

॥ सभी का बड़े प्रेम सम्मान से हार्दिक स्वागत ॥

हम सभी को जिज्ञासा होती है कुछ नया जानने की, ज्ञान प्राप्त करने की, किन्तु प्राप्त किए हुए ज्ञान को पचाना बहुत बड़ी बात है। क्योंकि हम सब शास्त्र पढ़ तो लेते हैं, परन्तु उस पर अमल नहीं कर पाते हैं। व्यवहार में नहीं ला पाते हैं। अर्थात् उस ज्ञान के सार को अपने जीवन में उतार पाना सार्थकता का विषय है। श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में एक श्लोक आता है – मय्यासक्तः मनः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः । असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ अर्थात् भगवान अर्जुन को कहते हैं कि बस मुझसे जुड़ जाओ, आसक्ति करनी है मुझसे करो। सदा ही मेरे आश्रय में रहो। किन्तु संशय मत करो। हम जाते तो हैं मन्दिर में, सत्संग में, लेकिन हमारे मन में एक संशय रहता है कि क्या मेरा यहाँ आना सार्थक है? अर्थात् मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ? और बस फिर संसार की भौतिक वस्तुओं के बारे में सोचने

अपना 'अहं' अपनी चप्पल के साथ बाहर छोड़ दो, कुछ पल के लिए भगवन्नाम स्मरण करो। सत्संग में कही गई बातों पर चिन्तन करो, उन विचारों को अपने जीवन में लागू करो तब तुम्हें लाभ होगा।

लगते हैं। अन्यमनस्क होकर बैठे रहते हैं और जब सत्संग समाप्त हो जाता है फिर हम विचार करते हैं कि क्या लाभ हुआ मुझे सत्संग में जाने से? अरे किन्तु आप ये भी तो सोचो कि हम सत्संग में तो थे लेकिन हमारा मन, हमारे विचार सत्संग में थे ? आप को जो सुनना, समझना चाहिए था, तब आप अपने विचारों में खोए हुए थे। फिर क्या लाभ होगा? मैं हमेशा कहता हूँ कि जहाँ भी जाओ वहीं के हो जाओ, उसके बारे में ही विचार करो। अपना 'अहं' अपनी चप्पल के साथ बाहर छोड़ दो, कुछ पल के लिए भगवन्नाम स्मरण करो। सत्संग में कही गई बातों पर चिन्तन करो, उन विचारों को अपने जीवन में लागू करो तब तुम्हें लाभ होगा। पद्मपुराण में एक कथा आती है- भगवान शिव पार्वती से कहते हैं कि गीता के सातवें अध्याय की क्या विशेषता है? पाटलिपुत्र नाम का एक नगर था जिसमें एक ब्राह्मण रहता था जिसका नाम था

शंकुकर्ण। वह व्यापारी था, बहुत धन कमाता था और व्यापारी की तो यही सोच होती है कि जितना धन बढ़ाया जा सके बढ़ा लिया जाए। पुराने समय की बात है तो धन को भूमि के अन्दर छुपा दिया जाता था। उस ब्राह्मण ने भी अपना सारा धन भूमि में छुपा दिया था। धन कहाँ रखा है ये बात सिर्फ शंकुकर्ण को ही पता थी। उसके कई विवाह हुए, कई सन्तान हुई। एक दिन परिवार के साथ घूमने निकले तो रात को सांप ने ब्राह्मण को काट लिया, उसकी सन्तान ने बहुत कोशिश की कि बचा लिया जाय, क्योंकि परिवार में वही सदस्य ऐसे थे, जो धन कमाते थे लेकिन ब्राह्मण की मृत्यु हो गयी। किसी भी मनुष्य की संसार में किसी वस्तु के साथ आसक्ति हो जाती है, तो उसकी आत्मा संसार में ही भटकती रहती है। हम उस आत्मा की गति के लिए श्राद्ध वगैरह करते हैं। तो शंकुकर्ण सर्प के रूप में जन्म लेकर अपने धन के पास रहने लगा क्योंकि

बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जो सोचते हैं कि ये करना चाहिए या नहीं करना चाहिए। बाकी सोचते हैं बस सब कर रहे हैं तो हम भी कर रहे हैं।

उसकी आसक्ति तो वहीं थी। बहुत समय बीत जाने के बाद उसने सोचा कि कहाँ मैं ये सर्प का रूप लेकर बैठा हुआ हूँ? उसने अपने बच्चों के स्वप्न में आकर कहा कि मुझे इस रूप से मुक्ति दिलाओ, बहुत समय से मैं अपने धन की रक्षा के लिए रह रहा हूँ अब मुझे मुक्ति चाहिए। बड़े पुत्र ने सोचा पिताजी स्वप्न में आये हैं तो चलकर देखा जाए कहाँ रखा है धन? एक जगह पहुँचे वहाँ उन्होंने खोदना शुरू किया। एक सर्प के बिल से एक भयानक सर्प बाहर आया और उसने पूछा कि कौन हो? उन्होंने बताया कि हम आपके पुत्र हैं, आप हमारे स्वप्न में आये थे। तो पिताजी कहने लगे कि मैं इस धन की आसक्ति के कारण यहाँ फँस गया हूँ, अब मुझे मुक्ति चाहिए। हम कभी ये नहीं सोचेंगे वो उस परिस्थिति में पहुँचा कैसे? अधिकाँश हम घड़ा चाहते हैं। बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जो सोचते हैं कि ये करना चाहिए या नहीं करना चाहिए। बाकी सोचते हैं बस

सब कर रहे हैं तो हम भी कर रहे हैं। तो उन दोनों को उस ब्राह्मण ने कहा कि मुझे सिर्फ दान या श्राद्ध से मुक्ति नहीं मिलेगी, मेरे लिए गीता के सातवें अध्याय का पाठ कराओ और जिस ब्राह्मण से कराओ वह गीता का पाठ करता हो। कहते हैं कि जैसे ही पाठ हुआ पिताजी को वैसे ही मुक्ति मिल गयी। उन दोनों पुत्रों को ज्ञान हुआ। उन्होंने अपने पिताजी के सारे धन को स्वयं उपयोग न करके उसका सदुपयोग किया। मन्दिर बनवाये, कुआँ बनवाया, गरीब लोगों को भोजन करवाया इत्यादि। जितने भी सत्कर्म हो सके उन्होंने किए। अन्त में वो भी सद्गति को प्राप्त हुए।

शिवजी ने पार्वती से कहा कि ये विशेषता है सातवें अध्याय की। महेश्वरानन्द जी कहते हैं कि मनुष्य हमेशा प्रश्न करता है कि मैं मन को परमात्मा में कैसे आसक्त करूँ? मेरा मन अभी तो संसार में आसक्त है। तो महाराज जी कहते हैं कि जब हम

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अपने मन को धीरे-धीरे उस परमात्मा में लगाओ, उसका भजन करो, संकीर्तन करो, फिर तुम धीरे-धीरे परमात्मा में आसक्त होने लगोगे।

बाजार जाते हैं तो कोई हमें अच्छी वस्तु बताता है और कोई खराब वस्तु बताता है, तो हम चयन किसका करेंगे ? हम सब अच्छी वस्तु का चयन करेंगे, बल्कि हम पहले से ही दुकानदार से कह देंगे कि अच्छा देना। स्वामी जी पूछते हैं कि जब हमें ये पता चल जाये कि हम अपनी इन्द्रियों को भोग में लगा रहे हैं, मन हमारा हमेशा ही बहिरंग हो तो सुख कहाँ से आएगा ? भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अपने मन को धीरे-धीरे उस परमात्मा में लगाओ, उसका भजन करो, संकीर्तन करो, फिर तुम धीरे-धीरे परमात्मा में आसक्त होने लगोगे। आजकल अर्जुन जैसा सुनने वाला कहाँ मिलता है? अगर उसको कोई सद्गुरु या सन्त कोई उपदेश देता है तो वह पहले प्रश्न पूछेगा कि इससे कोई लाभ होगा कि नहीं ? उसको सन्त की कही गई बात पर श्रद्धा नहीं है, विश्वास नहीं है। शास्त्रों के अनुसार “श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्” यह बात ध्यान

में रखकर हमें ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। अगर विचार किया जाए तो जब तक हम में श्रद्धा का अभाव रहेगा तब तक हम किसी भी प्रकार का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक प्राणी में अपना एक अहं होता है कि मुझ से बड़ा ज्ञानी कोई है ही नहीं और यही अहं हमारे ज्ञान की ग्रहणता में बाधा बन जाता है।

विनम्रता और श्रद्धा दोनों ही होना बहुत जरूरी है। किसी आश्रम में जाओ तो प्रयास करो कि वहाँ के वातवरण में मिल जाएँ। जो भी वहाँ की दिनचर्या है उसको अपनाएँ और सद्गुरु की सेवा करें। उनके सान्निध्य में सत्संग करें, संकीर्तन का आनन्द लें। अगर वहाँ जाकर भी अपनी ही चलानी है तो फिर कुछ भी तुम्हें प्राप्त होने वाला नहीं है। सेवा करें, सहयोग दें।

शास्त्रों में आता है “गुरुशुश्रूषया विद्या” अर्थात् विद्या की प्राप्ति गुरु-सेवा से प्राप्त होती है।

कर्म करते हुए भक्ति करना, साधना करना, फिर प्रभु की प्राप्ति के लिए अग्रसर होना, सबसे उत्तम कर्म है।

हमें निष्कामना से भक्ति करनी चाहिए, क्योंकि इस धारणा में कर्म पर अत्यधिक बल दिया गया है। हमारे अस्तित्व का अन्तिम ध्येय दिव्य-चेतना के साथ एक होना है। लेकिन इस कर्म के पीछे कामनाओं की इच्छारहित स्थिरता अवश्य होनी चाहिए। कर्म से पीछे हटने से तथा ना ही त्यागने से मनुष्य अपनी आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि केवल कर्म का त्याग करके पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। जो लोग अपने कर्म और धर्म के त्यागने से भगवान की प्राप्ति पर भरोसा करते हैं, वे टूटी हुई शाखा पर भरोसा करते हैं। कर्म का कथित त्याग एक नाममात्र त्याग है। इसलिए कर्म करते हुए भक्ति करना, साधना करना, फिर प्रभु की प्राप्ति के लिए अग्रसर होना, सबसे उत्तम कर्म है।

हर मानव को अपनी जटिलता के कुछ भाग को किसी प्रकार के क्रम में डालना पड़ता है।

यथार्थ में यह मान लेना चाहिए कि लगभग सभी मानवों के जीवन की प्रारम्भिक गति मनुष्य के स्वभाविक अहंकार के चारों ओर केन्द्रित है। मनुष्य स्व-लाभ और भोग की इच्छाओं को पूर्ण करते-करते जीवन के मूल कारण को भूल गया है।

भारतीय संस्कृति ने मनुष्य की प्रकृति के इस प्रारम्भिक रूप को जाना है। स्वाभाविक अहंकारमय जीवन को जीना पड़ेगा या इसको सार्थक करना पड़ेगा? किसी सम्पूर्ण या अत्यधिक सीमा तक स्वेच्छा, स्वार्थ तथा इच्छा द्वारा संचालित कोई भी जीवन मानवीय तथा दयापूर्ण अस्तित्व की स्वाभाविक सम्पूर्णता को नहीं ला सकता। इसलिए कामना और स्वार्थ को वश में लाने तथा स्वेच्छा से इनसे ऊपर उठने के लिए एक और शक्ति की आवश्यकता है। वह शक्ति है धर्म। जीवन को जीने की एक उचित या पूर्ण प्रवृत्ति की सत्यता व न्यायोचितता मनुष्य धर्म में ही पाता है।

धर्म हमारे जीवन के अधिक गहरें स्तरों से उठने वाली नीति या विज्ञान है जो हमारी क्रियाओं पर अंकुश लगाता है या उन्हें करने की राह दिखाता है।

धर्म अपने मूल तत्त्व में स्थिर है, लेकिन फिर भी यह हमारी मूल चेतना में विकास करता है, प्रकट होता है तथा इसके अपने स्तर होते हैं। हमारी प्रकृति के सर्वोच्च सिद्धांत की खोज में आध्यात्मिक आचार-संहिता के आरोहण के कई स्तर विद्यमान हैं। क्योंकि सभी मानव सभी प्रकार के नियमों का पालन नहीं कर सकते हैं, सभी अपने बौद्धिक स्तर से ही समझ कर अपने लिए उचित वस्तु चुनकर स्वयं का ही कोई नियम बनाकर उस पर अडिग रहते हैं। यही कारण है कि समाज में धर्म को लेकर इतने मतभेद है क्योंकि हर मानव ने अपने अनुसार धर्म की व्याख्या समझी है।

धर्म हमारे जीवन के अधिक गहरें स्तरों से उठने वाली नीति या विज्ञान है जो हमारी क्रियाओं पर अंकुश लगाता है या उन्हें करने की राह दिखाता है। यह पूर्णता का मानक देता है तथा जो वस्तु अभिव्यक्त होना चाहती है, उसे एक क्रम देता है।

जीवन के इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए, भारतीय सामाजिक व्यवस्था ने उसे एक रूप रेखा दी है जो मनुष्य के चार आश्रमों पर निर्धारित है। मनुष्य इन्हीं चार आश्रमों में भटकर रह जाता है। कोई समझदार होता है तो वह समय निकाल कर सत्संग या भजन संकीर्तन करने आश्रम में आ जाता है। कोई संसार की भौतिक समस्याओं से ही नहीं उठ पाता है, वही करते करते उसका जीवन पूर्ण हो जाता है। जैसा आया था वैसा ही चला जाता है और अगले जन्म में इस जन्म के संस्कार लेकर आता है। फिर वही करता है जो पहले करता था।

इस बार अगर उसके प्रारब्ध में होता है तो कोई सद्गुरु उसे मिल जाते हैं, उसे बताते हैं ये सब मिथ्या है जो तुम अभी कर रहे हो, ये जो भी करते आये हो, फिर उसे ज्ञान होता है अरे मैं ये क्या कर रहा था, संसार में फँसा हुआ था। सब कुछ छोड़कर सद्गुरु की शरण में आ जाता है, भजन

कहते हैं कि मनुष्य जीवन मिलने पर भी जो शास्त्र देवों के लिए भी दुर्लभ हैं, ऐसे अच्छे शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

संकीर्तन करता है और सद्गति प्राप्त करता है। यही जीवन चक्र है किन्तु इसका प्रमुख लक्ष्य है प्रभु की प्राप्ति, सद्गति की प्राप्ति और वो भी मनुष्य जीवन में ही होती है, अन्य में नहीं। तुलसीदास जी ने लिखा है “बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा” अर्थात् बहुत ही मुश्किल से मनुष्य जीवन की प्राप्ति होती है। चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए उन सभी संस्कारों को अपने अन्दर समेटते हुए हम मनुष्य जीवन में आते हैं। कहते हैं कि मनुष्य जीवन मिलने पर भी जो शास्त्र देवों के लिए भी दुर्लभ हैं, ऐसे अच्छे शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। इसलिए हमें अपने जीवन में सद्गति का लक्ष्य लेकर एवं सत्कर्म से आचरण करते हुए, जीवन व्यतीत करना चाहिए। परमात्मा में अटल श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिए, तभी हमारे जीवन का कल्याण सम्भव है, अन्यथा नहीं।



सद्गुरुनाथ महाराज की जय